

# गांव के माथे पर कांस का फूल

## एकांत श्रीवास्तव

कहना कठिन है कि इस संक्षिप्त लेख का सम्बंध 'तद्भव' अंक-20 में बहस के लिए प्रकाशित बंदी नारायण के आलेख 'फटी हुई जीभ की दास्तान' से कितना है। कम से कम इतना तो है ही कि यहां भी 1980 के बाद उभरी हिन्दी कविता की परम्परा के भीतर ही और उसकी अगली कड़ी के रूप में ही इस कविता को देखने की यह विनम्र चेष्टा है। इस कविता को लेकर किसी प्रकार का दम्भ यहां नहीं है। होना भी नहीं चाहिए। इस लेख का लेखक भी इसी दौर की कविता का एक हिस्सा है। इस लेख को लिखने के पीछे का एक कारण यह भी था।

हिन्दी कविता की प्रदीर्घ यात्रा में हर दौर और हर पीढ़ी के कवि अपनी तरफ से कुछ नया जोड़ते रहे हैं। एक लम्बी और प्राचीन नदी में सहायक नदियों का जल आकर मिलता है— कुछ अलग रंग और अलग स्वाद का जल। नया पुराने में मिल कर कुछ पुराना हो जाता है, पुराना नये के साथ कुछ नया हो जाता है। परम्परा के विकास का यही अर्थ है।

1980 के बाद उभर कर आये कवि भी अपने साथ एक ताजगी लेकर आये। जैसाकि हर नयी कवि पीढ़ी के साथ होता है। बासीपन लेकर कोई नहीं आता। प्रतिभावान नये कवि की ताजगी का अर्थ उसकी सृजनात्मक मौलिकता से है। काव्य पथ तो पुराना और चिरपरिचित था लेकिन पाथेय नया था। पिछली सदी का नौवां दशक। अधिकतर कवि गांव कस्बों में रह कर कविता लिख रहे थे। कविता एक बार फिर ग्राम केन्द्रित होने लगी— 'भारतमाता ग्रामवासिनी'। केदारनाथ सिंह का गांव सत्रह बरस पहले छूट चुका था मगर शब्दों में ग्राम गंध बची हुई थी। त्रिलोचन, मानबहादुर सिंह, विजेन्द्र, ज्ञानेन्द्रपति इसी भूमि पर कविताएं लिख रहे थे। अरुण कमल की कविता में धान की कटी हुई जड़ें चमक रही थीं। राजेश जोशी भोपाल के कस्बाई लोक की जीवंत अभिव्यक्ति के लिए यहां याद किये जा सकते हैं। मंगलेश डबराल का 'पहाड़ पर लालटेन' वाला बिम्ब बहुत दिनों तक पाठकों और इन युवा कवियों को प्रभावित करता रहा।

कविता के मंच पर चलने वाली बंदूकें नेपथ्य में चली गयी थीं। उनकी आवाजें दूर होती जा

रही थीं मगर सुनायी दे रही थीं। 'समरगाथा' सुनने के लिए अब किसी के कान अधीर नहीं थे। 1967 के नक्सलवाड़ी आंदोलन के प्रभाव में लिखी जाने वाली मुखर, उग्र वामपंथी कविताएं यथा 'गोली दागो पोस्टर' (आलोक धन्वा) अब नहीं लिखी जा रही थीं। स्वयं आलोक धन्वा जैसे कवि कुछ मध्यम स्वर में जीवन की दूसरी विसंगतियों को भी काव्य विषय बना रहे थे। वेणुगोपाल की लेखनी लगभग रुक चुकी थी। विरोध अब संयत दिख रहा था, क्रोध कुछ समझदार। कविता की नदी अब शोर करती नहीं बह रही थी। उसका प्रवाह शांत और गहरा हो चला था।

यह, नवें दशक में उभर कर आये कवियों की कविता थी। लेकिन यह कविता सिर्फ नवें दशक की कविता नहीं थी। कवि भी ये, सिर्फ नवें दशक के नहीं थे। कोई भी कविता या कवि केवल दशक विशेष का नहीं होता। दशकवाद विभाजन ही गलत है।

केवल हिन्दी कविता में नहीं बल्कि भारत के सामाजिक राजनीतिक परिदृश्य में व वैश्विक परिदृश्य में 1990 की भूमिका महत्वपूर्ण है। रूस का मॉडल टूट कर बिखर रहा था। विश्व भर में वामपंथी व्यवस्थाएं एक एक कर ढह रही थीं। यद्यपि व्यवस्था की विफलता विचार की विफलता नहीं थी। लेकिन दृष्टि के सामने साकार के ढहने का प्रभाव पहले पड़ता है। निराकार के बच रहने का संतोष तो बाद में होता है। कुछ कुछ वैसी ही स्थिति बन पड़ी थी जैसी स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद राष्ट्रीय काव्यधारा के कवियों यथा दिनकर, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' आदि के सामने थी कि अब क्या लिखें। उन कवियों का काव्य पतन तो 'हारे को हरिनाम' और 'कोयला और कवित्त' तक जा पहुंचा लेकिन 1990 के बाद इन युवा कवियों ने हरिनाम की आध्यात्मिक शरण लेने के बजाय अपने गांव कस्बों को देखना आरम्भ किया। कविता इससे पहले या तो 'रणभूमि' में थी या महानगर केन्द्रित। यह 'ग्रामवासिनी भारतमाता' की खोज थी। कविता में भारत की खोज। डिस्कवरी ऑफ इंडिया। भारत जो भारत ही था, इंडिया नहीं था। कविता के संसार में यह काम पहले भी हुआ था। लेकिन बीच में कुछ वर्षों का मार्ग विचलन तो था ही। यह, उस रास्ते पर पुनः वापसी थी। लेकिन अब कदम नये थे। आहटें नयी थीं। उनकी पदचापें, पदचिह्न नये थे।

काव्यवस्तु की दृष्टि से देखा जाये तो इस कविता में उपेक्षित तिरस्कृत भूखंडों के यथार्थ और सौन्दर्य का सूक्ष्म अंकन देखने को मिलता है। जैसे पूर्ववर्ती कविता में, वरिष्ठ कवि चंद्रकांत देवताले की लम्बी कविता 'भूखंड तप रहा है' में मालवा अंचल का बहुत भीतरी यथार्थ समय संदर्भों के साथ उजागर होता दिखा था, वैसे ही आरा, पटना, भोपाल, गुना, सरगुजा, छत्तीसगढ़ और इलाहाबाद जैसी जगहों के बहाने हिन्दी प्रदेश की भिन्न भिन्न लोक संस्कृतियां यहां सांस लेती दिखायी देने लगीं। वहां के फूल पत्ते, तीज त्यौहार, लोक परम्पराएं, लोक मिथ और लोकजीवन को इस कविता ने जैसे पहली बार अपने कैमरे में क्लिक किया। सहज ही इस कविता की जगह तेजी से और शीघ्र बनी। और जैसाकि होता है, हर दौर की कविता के साथ, इसके खिलाफ भी विरोधियों का एक खेमा उठ खड़ा हुआ— नाना प्रकार के तर्क— पर सच्ची कविता हर दौर में केवल जन्म लेती है। बेमौत बुरी कविता को मरना पड़ता है। आलोचक सद्गुरु बनें या चिकित्सक — ऑक्सीजन के सहारे कोई कविता कब तक सांस ले सकती है।

हेमंत कुकरेती, देवी प्रसाद मिश्र, विमल कुमार, मदन कश्यप, नवल शुक्ल, अनामिका, कात्यायनी, संजय चतुर्वेदी, कुमार अम्बुज, बद्री नारायण, बोधिसत्व, निलय उपाध्याय आदि — इस कविता के कवियों की सूची हड़बड़ी में भी बनायी जाये तो भी लगभग दर्जन भर नाम तो याद आने ही लगते हैं। यद्यपि सभी लोकसंस्कृत और लोकजीवन के कवि नहीं थे। लोक अपने व्यापक अर्थ में केवल ग्रामीण है ही नहीं। उसका अर्थ यदि जनता ही है तो लोक के अर्थ में नागर और ग्रामीण — दोनों समाज सम्मिलित हैं। विरोध तो उस कविता का है जो सिंथेटिक है। कागज के फूलों सी रंगीन, भड़कीली मगर सौरभहीन और बेकार— फिर चाहे वह ग्रामीण लोक को विषय बनाती हो या नागर लोक को। असल में जन समाज से जब जुड़ाव ही खत्म होने लगता है और अपने भूगोल से भी तब ऐसी कविता जन्म लेती है। इन्हें समाचार संचालित कवि कहा जा सकता है अर्थात् समाचारपत्र, रेडियो, टी.वी. से ये अपनी कविता में तथाकथित विश्वबोध, युगबोध की माया तो रच सकते हैं लेकिन उस गहरी संवेदना को प्राप्त नहीं कर सकते जो कविता की जड़ों को सींचती है और पत्तों/शब्दों/वाक्यों की तरल चमक बनती है— 'दर्द को दिल में जगह दे अकबर/इल्म से शायरी नहीं आती'। त्रिलोचन ने तो कविता का मेनिफेस्टो ही जारी कर दिया था— 'उस जनपद का कवि हूं। जो भूखा दूखा है'। जैसे ज्ञानेन्द्रपति की कविता में बनारस का लोक और उसका सूक्ष्म विवरण पूरे देश के लोक में बदलता दिखायी देता है। ऐसा, गहरी जन संवेदना और सम्पृक्ति के बिना सम्भव ही नहीं। तो झगड़ा नागर और ग्रामीण लोक के बीच नहीं बल्कि असली और कृत्रिम कविता के बीच है। कार्यशालाओं में दीक्षा

लेकर, गुरु की नसीहतें सुन कर काव्याभ्यास से कविता सम्भव नहीं है। यह तो एकलव्य साधना है।

समाज सम्पृक्ति की वास्तविक पहचान भाषा से की जा सकती है। इस कविता में प्रायः लोकभाषा और नागर समाज के बोलचाल के शब्दों को, वाक्यों, मुहावरों को व्यापक स्थान मिला। इससे यह कविता सहज ही पूर्ववर्ती कविता से पृथक हुई। प्राचीन काव्यपथ पर नया पाथेय यही था — नयी काव्यवस्तु के साथ नयी काव्य भाषा 'नये चित्र के साथ नयी देता हूँ भाषा' — त्रिलोचन ने जो कभी लिखा था, उसका कुछ सत्य तो यहां भी चरितार्थ होता दिखता ही है। बीहड़ प्रदेश के पत्थर और फूल उसी की झोली में हो सकते हैं जो वहां के ऊबड़खाबड़ रास्तों में भटकता रहा है। लोक के शब्दों के साथ भी यही बात है।

लोकचरित्रों की दृष्टि से भी यह कविता त्रिलोचन की 'नगई महारा' परम्परा का विकास है यद्यपि वैसी विशद और कथात्मक कविता तो कम लिखी गयी लेकिन ठेठ देशज लोग इस कविता के संक्षिप्त कलेवर में आये जरूर। 'आंझुलियां' (मदन कश्यप), 'मनबोध बाबू' (निलय उपाध्याय), 'पागलदास' (बोधिसत्व), 'दुलारी धिया' (बद्रीनारायण) जैसी कविताएं सहज ही याद आती हैं। कात्यायनी जैसी कुछ भिन्न प्रकृति की कवयित्री की 'सात भाइयों के बीच चम्पा' जैसी कविता यहां याद की जा सकती है। अनामिका का तो लगभग सारा काव्य खुरदुरी हथेलियों वाले चरित्रों और दूब धान की गमक से ओतप्रोत है। इन लोकचरित्रों ने इस कविता को एक विश्वसनीय धरातल प्रदान किया। पाठकों को यथार्थ के वैश्विक बोध(?) की तुलना में देश गांव का यह स्थानीय बोध अधिक भरोसे का जान पड़ा।

इस कविता ने स्नेहसिक्त भाषा में मनुष्य जीवन के विभिन्न सम्बंधों यथा पिता, मां, भाई, बहन, बच्चे, पत्नी, दोस्त, प्रिया को भी व्यापक धरातल पर व्यक्त किया। कविता की वापसी घर की तरफ हुई। यह घर, दुनिया के सैकड़ों घर की तरह ही एक घर था — उससे भिन्न कुछ भी यहां नहीं था। इस तरह कविता की सामाजिकता घर से आरम्भ होकर देश, दुनिया और समाज तक फैलती दिखायी देती है।

प्रकृति की तरफ भी इस दौर में कविता की वापसी पुनः दिखायी देती है। मगर यह पंत की प्रकृति नहीं थी— मनुष्यविहीन। प्रकृति के शुद्ध रूप का यहां निषेध था। वह जीवन के कार्य व्यापार और विभिन्न सुखद, दुःखद और त्रासद अनुभूतियों को अभिव्यक्त करने का एक मंच मात्र थी। गद्य कविता की मरुभूमि में कविता का नखलिस्तान पुनः हरा भरा दिखायी देने लगा। घास जनता का, पानी संवेदना और मनुष्यता का और फूल प्रायः प्यार और स्वप्न का प्रतीक बन कर कविता में आये।

इस कविता में अपने स्थापत्य के प्रति एक चौकन्नापन दिखायी देता है। प्रायः लघुकाय, मितभाषी, और सुगठित शिल्प। यह कविता, कविता के गद्यात्मक स्वरूप का शांत प्रतिवाद करती दिखायी देती है। शब्दों को सरकारी धन की तरह खरचने में इस कविता का विश्वास नहीं था। कुछ लोगों ने, प्रायः व्यंग्य से, इसे मंत्र और श्लोक की भाषा में लिखी जाने वाली कविता भी कहा।

प्रत्येक दौर की कविता की तरह इस कविता के भी कुछ अपने अंतर्विरोध हो सकते हैं। सीमाएं भी। लेकिन राजनीतिक जागरूकता की कमी का आरोप सही नहीं है। राजेश जोशी जैसे कवियों को इस कविता में समकालीन यातना की अनुगुंजें कुछ कम सुनायी पड़ती हैं।

इस कविता में प्रायः तथाकथित मेट्रोपोल मानसिकता के बरक्स एक जनपदीय चेतना का विस्तार और विकास दिखायी देता है।